Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 GISRRJ | Volume 3 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

कला में सृजनात्मक चिन्तन

धर्मेन्द्र कुमार
शोधार्थी, दृश्यकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश।
ए. के. जैतली
प्रोफेसर, दृश्यकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश।

Article Info

Volume 3 Issue 5

Page Number : 123-128

Publication Issue :

September-October-2020

Article History

Accepted : 15 Oct 2020

Published : 26 Oct 2020

शोधसारांश– सृजन मानवीय प्रवृत्तियों की ऐसी प्रतिक्रिया है, जो प्रागैतिहासिक, आद्यैतिहासिक, ऐतिहासिक एवं समकालीन परिवेश में हमें विभिन्न रूपों में प्राप्त होती रही हैं। सृजनात्मक चिन्तन पर मनोवैज्ञानिक शोधकार्य पर्याप्त मात्रा में अव्यवस्थित रूप से विद्यमान हैं। इसमें कुछ अत्याधिक सैद्धान्तिक हैं, तथा आनुभविक आँकड़ों से पूर्णतया पृथक होने के कारण बहुत कम सहायक हैं। विज्ञान तर्क विधि के तरीकों का वर्णन करता है, किन्तु वह यह नहीं बताता कि उन मूल संदर्भों को कैसे प्राप्त किया जाय, जो एक प्रदत्त स्थापना को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह अनुमान की विधियों का वर्णन करता है, किन्तु इसमें मात्र उन प्रयोगों का चयन करने वाले नियम नहीं हैं, जो किसी वैज्ञानिक खोज को प्रदान कर सकते हैं। दरअसल यह सब विज्ञान रूपी तर्कशास्त्र से नहीं, अपितु कला रूपी तर्कशास्त्र से सम्बन्धित हैं। प्रस्तुत शोध पत्र, कला में सृजनात्मक चिन्तन की प्राचीन एवं आधुनिक प्राक्कल्पनाओं पर एक अनुशीलन है, जिसमें कला–चेतना, निरूपण, स्थितियां तथा प्रक्रिया आदि का अध्ययन इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किया गया है कि क्या कला, सिद्धान्त एवं विधियों से युक्त रचना से सम्पृक्त होती है, अथवा रचनाकार की आनुभाविक प्रवृत्तियां भाव विशेष जगाने में सहायक होती हैं। क्या कला को विचारों, तथ्यों और प्रतीकों की दृष्टांत सामग्री के रूप में देखा जाए अथवा रचनाकार की स्वायत्त क्रिया के रूप में। दृश्य कलाओं 'रूप' की धारणा का अस्तित्व क्या है? क्या वर्तमान परिदृश्य रचना के गढ़न में रचनाकारों को प्रभावित कर रहा हैं? इसमें सृजनात्मक चिंतन की धारणा, अभिप्राय के अनुशीलन का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है।

मुख्य शब्द– कला, सृजनात्मक, मानवीय, प्रागैतिहासिक, आद्यैतिहासिक, ऐतिहासिक, समकालीन।

Copyright : © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

कला में सृजात्मक चिन्तन– जीवन की प्रत्येक व्यवस्था, संस्था अथवा संगठन में 'रूप' रहता है, और रूप के साथ, रूप के विधान भी रहते हैं, अर्थात् लय–लोच, सामन्जस्य–संगति–सन्तुलन–संवाद, प्रधान–गुण विधान आदि। 'रूप' में अनुशासन का सार निहित है। कला 'रूप' की सर्जना करती है, अरूप को रूप देती है, अव्यक्त को व्यक्त करती है, और 'रूप' सुन्दर होता है, क्योंकि स्वरों, शब्दों, गतियों, शिलाओं और स्थूल माध्यमों को आत्मसात् करने, पकड़ने में हमारा तन–मन लय–लोच एवं संगति और संतुलन से भर उठता है। यही सुन्दर की अनुभूति है, जिसे कला दर्शन में 'रस' अथवा 'आनन्द' कहा गया है।[1] यह सर्वविदित है कि कला की सभी कृतियाँ 'संयोजन' से सौष्ठव प्राप्त करती हैं। विविध कलाओं में समानरूपेण समादृत इस संयोजन–तत्व को सिद्ध करने वाले साघन 'अनुपात', 'सन्तुलन' एवं 'छंदगति' हैं। स्थापत्य कला और मूर्तिकला को छोड़कर शेष कलाओं में यह 'संतुलन' भौतिक पदार्थों का न होकर प्रधानतः भावनाओं का होता है।[2] आनंदवर्द्धन की मान्यता थी कि कला का तत्व संयत कौशल या प्रस्तुतिकरण की पर्याप्तता और प्रभाव शीलता में निहित नहीं है और न विधियुक्त रचना में ही है, बल्कि उसकी ध्वनि में अर्थात् हृदय में भाव विशेष जगाने की उसकी क्षमता में निहित है। अभिनव गुप्त के अनुसार–कौशल और छंद किसी कलावस्तु के तर्कसंगत और विधियुक्त यानी बाह्य गुण अर्थात् शरीर है, और उसमें आत्मा का संचार कलाकार की प्रतिभा, सर्जनात्मक शक्ति, दृष्टिकोण और कल्पना से होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार–किसी कलाकृति के लिए दो शर्तें अनिवार्य थीं, पहली–कला अवश्य ही कौशल से युक्त हो, दूसरी– कला अवश्य ही छंद से युक्त हो, अर्थात 'छंदोमय' हो। 'ऐतरेय ब्राह्मण का यह अंश कला को परिभाषित करने वाला सबसे प्रारंभिक प्रयास प्रतीत होता है, जिससे जिसमें 'छंद' का तात्पर्य भारतीय अर्थ में लय, संतुलन, अनुपात और सुसंगति आदि से है। मनुष्य के हाथों से बनी जिन समस्त चीजों में कौशल का उपयोग हुआ वे 'कला' या 'शिल्प' कही जाती थी।

सृजनात्मक चिंतन के तत्विक आधार को समझने के लिए हमें धरोहरों पर चिंतन करना आवश्यक है। पुरातत्व शास्त्र हमें जो सामग्री उपलब्ध कराता है उनसे एक बात स्वतः स्पष्ट होती है कि देश के लोगों के जीवन में कला की महत्वपूर्ण भूमिका थी। प्रागैतिहासिक, आद्यैतिहासिक आदि प्रमाणों में हमें प्रचुरमात्रा में कलात्मक अभिप्राय देखने को मिलते हैं। इसके उद्देश्य परोक्ष या अपरोक्ष जो भी रहे हों, ऐसा लगता है कि लोगों को कला सृजन में एक ऐसी क्रियाशीलता प्राप्त हुई जिससे ऐसी उत्पादक वस्तुएं सामने आई जो 'रूप' की आवश्यकता पूरी करने का सामर्थ्य रखती थीं। एक ऐसा अनुभव जो व्यक्तिगत या सामूहिक क्रियाकलाप में अनुभूत नहीं था। कला के प्राप्त उपादानों की प्रकृति, स्वरूप तथा प्रेरणाएं अपने मूल रूप में नहीं हैं। इनमें महत्वपूर्ण अन्तर है और यह अंतर उनकी दृश्य अभिव्यक्ति तथा उनके सांस्कृतिक महत्व में भी है। हड़प्पा में प्राप्त सिंधु घाटी की नृत्य मुद्रा में, पुरूष धड़, मोहन जोदड़ों में प्रापत नृत्य मुद्रा में युवती से रूप और संस्कृति दोनों स्तरों पर भिन्न है। दनों नारी लघुमूर्तियों और खिलौनों की दृष्टि से उतने ही भिन्न हैं जितने दाढ़ी वाले पुरोहित जैसे पुरूष की पारंपरिक आकृति। किसी भी क्षेत्र में किसी काल की भारतीय कला के सन्दर्भ में यह यह बात सत्य है क्योंकि उस समय आवश्यकता या उद्देश्य दोनों भिन्न थे, और तत्सम्बंधी उत्पादन के लिए उत्तरदायी थे।[3]

यह सच है कि सिंधु घाटी की सभ्यता के कला उत्पादनों की विस्तृत व्याख्या अब तक नहीं हो सकी है, मौर्य पूर्व काल की कलाओं एवं शिल्पों के ठोस प्रमाण हमारे समक्ष नहीं हैं, जिसके आधार पर यह निर्धारित किया

जा सके कि कला का स्वरूपगत आधार क्या था। समाज के उच्च एवं निम्न स्तरों पर कला के विविध रूपों के अस्तित्व का वर्णन वैदिक साहित्य तथा प्राचीन ग्रंन्थों में अवश्य मिलता है। जिस काल में उपनिषद् और वैदिक ऋचाएं लिखी गई थी उस समय काव्य, नाट्य और नृत्य कलाओं के विभिन्न रूप प्रचलित थे। भरहुत, सांची, भाजा, कार्ला, अमरावती तथा अन्य स्थानों पर ईसा पूर्व काल के जो भी अवशेष मिले हैं, उनसे यह बात सिद्ध होती है कि मूर्ति, संगीत और नृत्य की कलाएं अत्यन्त लोकप्रिय व प्रचलित रहीं, विशेषकर नृत्य, नाट्य और संगीत की कलाएं रूप और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उत्कृष्टता और बहुरूपता के ऐसे उंचे स्तर पर पहुंच चुकी थी, कि उनके उद्देश्यों और प्रयोजनों, रूपों और विधाओं तथा मानव विचारों और भावों पर उनके प्रभाव के सम्बन्ध में विस्तृत विश्लेषण, वर्गीकरण और संहिताकरण किया जाने लगा। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में इसके इन तथ्यों के प्रमाण देखे जा सकते हैं।[4]

ईसवी सन् के प्रारंभ के आसपास काव्य और नाट्य, नृत्य और संगीत, मूर्तिकला और चित्रकला को मात्र कौशल तथा छंद से सृजित रचनाओं से उच्चतर और अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा। कलाकृतियां हृदय में सुखद भाव और अर्थपूर्ण अनुभूतियां उत्पन्न करती हैं। चिंतनशील, और खोजपरक चिंतन मनोभावों पर असर डालते हैं, यह प्रतिक्रिया केवल शिल्प कौशल एवं छंदयुक्त अभिव्यक्ति से सम्भव नहीं है, इसमें बुद्धि का योग अतिआवश्यक तत्व है। कला कहलाने की अधिकारी किसी कृति के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह कुशलता पूर्वक और छंदों के नियमों के अनुसार सम्पन्न की गई हो बल्कि उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें बुद्धि और विवेक भी शामिल हो, वह संवेदनाओं और मनोभावों को आनंद पहुंचाए और हृदय में कोई भाव एवं अनुपम अनुभूति उत्पन्न करे। प्राक्कल्पनाएं अनायास प्रस्तुत होती हैं। कभी सहज रूप में तथा कभी अत्यधिक श्रमसाध्य प्रयत्नों के पश्चात्। कोई भी रचनाकार प्रतिक्रिया पर पूर्ण नियंत्रण नही कर सकता मात्र पृष्ठभूमि की विन्यासात्मक प्रवृत्ति हो सकती है।

कलाकार का व्यक्तित्व, जीवन के घटनाक्रम का सूक्ष्म दर्शना होता है। इसी घटनाचक्र में वह कला–बिम्बों का सजीव तत्व प्राप्त करता है। वह तत्वान्वेषी है। कला का एक मात्र उद्देश्य है, अभिव्यक्ति, जिसे कलाकार निश्चित आयाम देता है और अपने तत्वान्वेषी चित्र द्वारा उसके स्वरूप को गढ़ता, संवारता हैं कलाकार का मूल उद्देश्य है, कलात्मक मौलिक प्रतिभाष निर्मित करना। यथार्थ विम्ब को ग्रहण कर उसे इस रूप में विकसित करना, कि दर्शक या प्रेक्षक उसके भाव व्यंजित प्रतिभाषित स्वरूप में आत्म विस्मृत हो जाये।[5] रूप और अर्थवत्ता दोनों का सृजन स्थल, कलाकार का मन है। कलाकार की मनः स्थिति को अनुरूप, रूप और अर्थसार (फार्म एण्ड कन्टेन्ट) का भी गठन होता रहता है। सृजन में माध्यम एवं तकनीकी उपकरणों का भी योगदान है। इस प्रकार सर्जक का सम्बन्ध एक ओर रूप और अर्थसार से होता है, दूसरी ओर कला माध्यम और तकनीकी उपकरणों से भी जुड़ता है।[6]

काव्यशास्त्र के प्रणेताओं, विशेषकार आनंदवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने, और उनके बाद 'साहित्यदर्पण' और 'उज्ज्वनील मणि' के प्रणेताओं, क्रमशः विश्वनाथ और रूप गोस्वामी ने कला और कलानुभूति को उठाकर दार्शनिक अनुशासन के स्तर तक पहुंचा दिया। आनंदवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त का दृष्टिकोण कल्पनाप्रवज और मानवतावादी था। ऐसा इस अर्थ में कि उन्होंने कला या कलानुभूति की प्रकृति को तर्क और प्रयोग की श्रेणी में रखकर परखने

का प्रयास नहीं किया था, और न भट्टलोल्लट और शंकुक या उनके और भी पहले के अपने पूर्ववर्तियों की तरह उनकी यह दलील थी कि कला के गुण या अनुभूति को बुद्धि से जाना जा सकता है।

किंतु जब भट्टनायक और विशेषकर अनंदवर्द्धन एवं अभिनव गुप्त जैसे लेखकों ने काव्य और नाटक की कला पर अपने सुचिंतित विचार स्थापित किए, तो उनके मूल में सर्वश्रेष्ठ संस्कृत काव्य और नाटक की समस्त शास्त्रीय रचनापरम्परा के सम्बंध में उनकी कलानुभूति थी। चाहे 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' रहा हो या 'मेघदूतम्' उन लेखकों ने अपने अनुभव से पाया कि मात्र रचना कौशल और रूपगत रचना के गुणों के विश्लेषण से ही उन्हें यह कलानुभूति नहीं मिली है, बल्कि किसी और चीज से ही मिली है, वह चीन थी कौशल और विधिसम्मत रचना द्वारा जाग्रत भावात्मक स्थिति। यशोधर का निष्कर्ष भी लगभग ऐसा ही था। यशोधर ने चित्रकला के जिन छः अंगो (नियमों) का चित्रकला के सन्दर्भ में वर्णन किया है उनमें से चार का सम्बद्ध विशुद्ध रूप से विधि विषयक विशेषताओं से अर्थात कला के शरीर से है; किंतु भाव और लावण्य, इन दो का सम्बन्ध कला की आत्मा से है। यशोधर का जिन कलाओं के बारे में उनका अनुभव था वे थीं सारनाथ एवं मथुरा की मूर्तिया, बाघ और अजंता की चित्रकलाएं, एलोरा और एलिफैंटा की गहरी नक्काशियां। यदि प्राचीन कला 'रूपभेद' (रूपों में अन्तर), 'प्रमाणानि' (अनुपात, संतुलन, लय आदि) 'सादृश्यम्' (शब्दिक अर्थ में, रंगों की तरंगे अर्थात् ऊंची और नीची, सतह और गहराई, स्वरक्रम, वर्णक्रम) के आधार पर समझी जा सकती हैं तो शास्त्रीय कला भी इनके आधार पर समझी जा सकती थी, किन्तु 'अनुभूति', भाव और लावण्य के ही आधार पर हो सकती थी।[7]

भारतीय रस सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्यों के मत के अनुसार कवि, अभिनेता तथा दर्शक का अनुभव समान रूप में होता है(समानोनुभव)। रसास्वादन में सहृदय की शारीरिक, मानसिक दशा अभिनेता के समान ही होती है। अभिनेता स्वयं दर्शक में विभावों तथा अपने अनुभावों द्वारा रस का बोध कराता है। इस स्थिति में प्रमाता के हृदय में 'सहृदय तत्व' उत्पन्न होता है, और उसकी मनोगत भावना पूर्णता प्राप्त करती है। इस पूर्णता के पश्चात् सहृदय के चित्र में, प्रतिक्रियाजन्य उदात्त भाव दशा उद्भूत होती है। यही रसानुभव की पूर्णावस्था है। अभिनवगुप्त नें 'अभिनव भारती' में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के श्लोक का उदाहरण देकर इस बात का उल्लेख किया है कि, प्रदर्शित विभाव, नायक और सात्विक भाव अर्थात अनुभव परस्पर मिलकर 'अर्थ' को पूर्ण 'रस–दशा' पहुंचते हैं।[8]

किसी जाति या देश के कलाकार किन या किस प्रकार के विशेष सम्बंधों को सामने लाते हैं, यह उनकी 'दिक्' और 'काल' की धारणाओं और समझ पर बहुत कुछ निर्भर होगा। यदि इनके बारे में उसकी धारणाएं सीधी–सादी और सरल हैं, तो चाहे जैसा गहन (लगनेवाला) अनुभव हो, और चाहे जैसी कुशलता उसके रंग विधान में हो, अभिव्यक्ति, सतही बचकानी और एकरसता से परिपूर्ण होगी। कैनवास पर रंगों, आकारों और रेखाओं के बीच इतने अधिक जटिल और अर्थमय सम्बंध मूर्त किये जा सकते हैं, कि उनकी सम्भावनाओं से दर्शक को कोई भूल, नासमझी, या साधारण ढंग अपनाने की जल्दी, उबा देने वाली लगेगी। चित्रों के बनाने में और उसका रसास्वादन करने में सम्भावनाएं, देखने के ढंग पर निर्भर करती हैं। हमारा देखने का ढंग दिक् और काल की धारणाओं से बनता है।[9]

यह ठीक है कि विशेलषण की दृष्टि से पदार्थ और रूप में अंतर देखा जा सकता है, और पदार्थ से रूप ग्रहण तक की रूपांतर प्रक्रिया में विविध परिवर्तनों को देखा जा सकता है, किन्तु रचनात्मक उद्देश्यों के लिए कलाकार के मानस में पदार्थ और रूप को लेकर किसी द्वैत भावना की चेतना लक्षित नहीं होती। किसी कलाकृति, किसी शिल्पकृति का संदर्भ में, जिसमें मूर्तिकार के मस्तिष्क में विचार अथवा रूप है। मूर्तिकार के कल्पनालोक में उसे आकार और रूप देने की आंतरिक प्रेरणा अनुभव करता है क्योंकि व श्वास की तरह अभी तक अव्यक्त स्थिति में है। फलतः वह किसी अनुकूल सामग्री की तलाश करता है। इस क्रम में उसकी पसंद उसके मस्तिष्क में पहले से मौजूद विचार या दृष्टि की प्रकृति और स्वरूप से निरूपित थी। प्रत्येक सामग्री की अपनी विशेष प्रकृति ओर स्वभाव होता है, जैसे तंतु, रेखा, कटाव, रचना, तापमान, स्वभाव आदि। वस्तुतः इसका निजी जीवन होता है। यह उस विशेष विचार या दृष्टि की प्रकृति के अनुकूल या उससे सहमत हो भी सकता है और नहीं भी।[10] जैसे ही मूर्तिकार को अनुकूल सामग्री उपलब्ध होती है, वह सामग्री उससे मूक भाषा में मानों कुछ कहने लगती है, इस पारस्परिक संप्रेषण की प्रक्रिया की प्रारंम्भिक स्थिति में ही मूर्तिकार समझ जाता है कि जो प्रस्तरखण्ड, सामग्री अथवा शिलाखण्ड उसने चुना है, उस पर काम किया जाए अथवा उसें फेंक दिया जाये। जब तक विचार या दृष्टि पूर्णतः अनुभूत नहीं हो जाती तब तक पारस्परिक सम्प्रेषण की प्रक्रिया चलती रहती है, और जैसा कि बहुधा होता है कि सामग्री रचनाकार के मूल विचार या दृष्टि को किसी भी स्तर पर परिवर्तित भी करती रहती है, सामग्री और विचार दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, और सामग्री के साथ निरंतर सम्प्रेषण की प्रक्रिया के दौरान ही विचार और दृष्टि परिपक्व होते हैं और आकार एवं रूप ग्रहण करते हैं।[11]

निष्कर्ष– रचनाकार का दृष्टिकोण परंपरावादी हो सकता है और स्वच्छंदतावादी भी, चूँकि रचना का उद्देश्य नवीन सामाजिक चेतना, नई चेतना, नई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण है; अतः यह अपनी नवीन बोध–भूमि के कारण ही श्रेष्ठता पा सकती है। कला सृजन से पूर्व कलाकार अपने अन्तः करण में ध्यान योग से एक परिकल्पित विम्ब को प्रतिष्ठित करता है, उसका रसास्वादन कर कलाकार आंशिक निवृत्ति प्राप्त कर लेता है, पुनः अभिव्यक्ति की आतुरता उसे सृजन के लिए उत्प्रेरित करती है। जब तक कलाकार अनुभूति को रूपायित नहीं कर लेता, उसे पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त नहीं होती। अतएव सृजनात्मक चिन्तन में बोध–भूमि' एक अनिवार्य तत्व के रूप में समकालीन प्रवृत्तियों में देखा जाना समीचीन होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, हरद्वारी लाल,दर्शन–पृष्ठ संख्या 7 प्रकाशकः साहित्य संगम, इलाहाबाद संस्करण प्रथम–1988
2. कुमार विमल,सौन्दर्य शास्त्र के तत्व, पृष्ठ संख्या 66, प्रकाशकः राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सस्करण–1993
3. राय, निहार रंजन, भारतीय कला का अध्ययन, पृष्ठ संख्या 27, प्रकाशकः दि मैकमिलन, इंडिया, दिल्ली, संस्करण 1978

4. पाल हान्ले हर्फ़ेसमाजशास्त्र का क्षेत्र एवं पद्धति पृष्ठ सं. 149 प्रकाशकः राज. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण 1973
5. वाचस्पति गैरोलाभारतीय चित्रकला, पृष्ठ संख्या 30, प्रकाशकः लोकभारतीय, इलाहाबाद संस्करण तृतीय 1985
6. जोसफ़ क्रसेभारतीय सौन्दर्य शास्त्र एवं ललित कलाए पृष्ठ सं.–38 (डा0प्रेमा मिश्रा) प्रकाशकःपरा प्रकाशन, कानपुर 2010
7. राय, निहार रंजन, भारतीय कला का अध्ययन, पृष्ठ संख्या 38, प्रकाशकः दि मैकमिलन, इंडिया दिल्ली संस्करण 1978
8. मिश्रा प्रेमा, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं ललित कलाएं, पृष्ठ संख्या 103, प्रकाशक– परा प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 2010
9. अग्रवाल, विपिन कुमारविपिन कुमार अग्रवाल रचनावली, पृष्ठ संख्या 103 प्रकाशक– लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2010
10. राय, निहार रंजनभारतीय कला का अध्ययन पृष्ठ संख्या 45, प्रकाशक– दि मैकमिलन इंडिया, दिल्ली संस्करण 1978
11. विश्वनाथ प्रसादकला एवं साहित्य : प्रवृत्ति एवं परम्परा पृ. सं. 154, प्रकाशकः बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, सं. 1973